क्रांतिधर्मी साहित्य - युग साहित्य - इक्कीसवीं सदी का मार्गदर्शक साहित्य

क्रान्तिधर्मी साहित्य-युग साहित्य नाम से विख्यात यह पुस्तकमाला युगद्रष्टा-युगसृजेता प्रज्ञापुरुष पं.श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा १९८९-९० में महाप्रयाण के एक वर्ष पूर्व की अवधि में एक ही प्रवाह में लिखी गयी है। प्रायः २० छोटी-छोटी पुस्तिकाओं में प्रस्तुत इस साहित्य के विषय में स्वयं हमारे आराध्य प.पू. गुरुदेव पं.श्रीराम शर्मा आचार्य जी का कहना था-"हमारे ये विचार, क्रान्ति के बीज हैं। ये थोड़े भी दुनियाँ में फैल गए, तो अगले दिनों धमाका कर देंगे। सारे विश्व का नक्शा बदल देंगे।....मेरे अभी तक के सारे साहित्य का सार हैं।.... सारे जीवन का लेखा-जोखा हैं।.... जीवन और चिंतन को बदलने के सूत्र हैं इनमें।.... हमारे उत्तराधिकारियों के लिए वसीयत हैं।.... अभी तक का साहित्य पढ़ पाओ या न पढ़ पाओ, इसे जरूर पढ़ना। इन्हें समझे बिना भगवान के इस मिशन को न तो तुम समझ सकते हो, न ही किसी को समझा सकते हो।.... प्रत्येक कार्यकर्त्ता को नियमित रूप से इसे पढ़ना और जीवन में उतारना युग-निर्माण के लिए जरूरी है। तभी अगले चरण में वे प्रवेश कर सकेंगे।.... यह इस युग की गीता है। एक बार पढ़ने से न समझ आए तो सौ बार पढ़ना और सौ लोगों को पढ़ाना। उनसे भी कहना कि आगे वे १०० लोगों को पढ़ाएँ। हम लिखें तो असर न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। जैसे अर्जुन का मोह गीता से भंग हुआ था, वैसे ही तुम्हारा मोह इस युग-गीता से भंग होगा।.... मेरे जीवन भर का साहित्य इस शरीर के वजन से भी ज्यादा भारी है। यदि मेरे जीवन भर के साहित्य को तराजू के एक पलड़े पर रखें और क्रांतिधर्मी साहित्य को दूसरे पलड़े पर, तो इनका वजन ज्यादा होगा।.... महाकाल ने स्वयं मेरी उँगलियाँ पकड़कर ये साहित्य लिखवाया है।.... इन्हें लागत मूल्य पर छपवाकर प्रचारित-प्रसारित (शब्दशः-अक्षरशः) करने की सभी को छूट है, कोई कापीराइट नहीं है।....मेरे ज्ञान शरीर को मेरे क्रान्तिधर्मी साहित्य के रूप में जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास करें।".....

भाव संवेदनाओं की गंगोत्री

❄

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

❄

प्रकाशक :
युग-निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

२००६

मूल्य : ४.०० रुपए

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना
मथुरा (उ० प्र०)

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

मुद्रक :
युग निर्माण प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

वेदव्यास की अंतर्व्यथा

"आपके चेहरे पर खिन्नता के चिह्न ?" आगंतुक ने सरस्वती नदी के तट पर, आश्रम के निकट बैठे हुए मनीषी के मुखमंडल पर छाए भावों को पढ़ते हुए कहा। इधर विगत कई दिनों से वह व्यथित थे। नदी के तट पर बैठकर घंटों विचार मग्न रहना, शून्य की ओर ताकते रहना, उनकी सामान्य दिनचर्या बन गई थी। आज भी कुछ उसी प्रकार बैठे थे।

आगंतुक के कथन से विचार श्रृंखला टूटी। "अरे ! देवर्षि आप ?" चेहरे पर आश्चर्य व प्रसन्नता की मिली-जुली अभिव्यक्ति झलकी।

"पर आप व्यथित क्यों हैं ?" उन्होंने पास पड़े आसन पर बैठते हुए कहा—"पीड़ा-निवारक को पीड़ा, वैद्य को रोग ? कैसी विचित्र स्थिति है ?"

"विचित्रता नहीं विवशता कहिए। इसे उस अंतर्व्यथा के रूप में समझिए, जो पीड़ा-निवारक को सामने पड़े पीड़ित को देखकर, उसके कष्ट हरने में असफल होने पर होती है। वैद्य को उस समय होती है, जब वह सामने पड़े रोगी को स्वस्थ कर पाने में असफल हो जाता है।"

कुछ रुककर उन्होंने गहरी श्वास ली और पुनः वाणी को गति दी। "व्यक्ति और समाज के रूप में मनुष्य सन्निपात के रोग से ग्रस्त है। कभी हँसता है, कभी कुदकता-फुदकता है; कभी अहंकार के ठस्से में अकड़ा चलता है। परस्पर का विश्वास खो जाने पर आचार-विचार का स्तर कैसे बने ? जो थोड़ा-बहुत दिखाई देता है, वह अवशेषों का दिखावा भर है।

"और परिवार.........." इतना कहकर उनके मुख पर एक क्षीण मुस्कान की रेखा उभरी, नजर उठाकर सामने बैठे, देवर्षि की ओर देखा, "इनकी तो और भी करुण दशा है। इनमें मोह रह गया है, प्रेम मर गया है। मोह भी तब तक, जब तक स्वार्थ सधे। विवाहित होते ही संतानें

गिरे को कुचलना, कुचले को मसलना, यही रह गया है। आज मनुष्य और पशु में भेद आचार-विचार की दृष्टि से नहीं, वरन् आकार-प्रकार की दृष्टि से है।" कहते-कहते ऋषि का चेहरा विवश हो गया। भावों को जैसे-तैसे रोकते हुए धीरे से कहा—"देवता बनने जा रहा मनुष्य, पशु से भी गया-गुजरा हो रहा है।"

"महर्षि व्यास आप तो मनीषियों के मुकुटमणि हैं।" जैसे कुछ सोचते हुए देवर्षि ने कहा—"आपने प्रयास नहीं किए।"

"प्रयास ! .... प्रयास किए बिना भला जीवित कैसे रहता जो भटकी मानवता को राह सुझाने हेतु प्रयत्नरत नहीं है, हाथ पर हाथ धरे बैठा है, स्वयं की बौद्धिकता के अहं से ग्रस्त है, उसे मनीषी कहलाने, यहाँ तक कि जीवित रहने का भी हक नहीं है।"

"किस तरह के प्रयास किए ?"

"मानवीय बुद्धि के परिमार्जन हेतु प्रयास। इसके लिए वैदिक मंत्रों का पुनः वर्गीकरण किया। कर्मकांडों का स्वरूप सँवारा, ताकि मंत्रों में निहित दिव्य-भावों को ग्रहण करने में सुभीता हो; पर .... ।"

"पर क्या ?"

"प्राणों को छोड़कर लोग सिर्फ कर्मकांडों के कलेवर से चिपट गए। वेद, अध्ययन की जगह पूजा की वस्तु बन गए। यहीं तक सीमित रहता, तब भी गनीमत थी। इनकी ऊटपटांग व्याख्याएँ करके, जाति-भेद की दीवारें खड़ी की जाने लगीं।

"फिर .... ?"

"पुराणों की रचना की, जिसका उद्देश्य था, वेद में निहित सत्य-सद्विचार को कथाओं के माध्यम से जन-जन के गले उतारा जा सके, जिससे बौद्धिकता के उन्माद का शमन हो। किंतु .... ।"

"किंतु क्या ?"

"यह प्रयास भी आंशिक सफल रहा। सहयोगियों ने स्मृतियाँ रचीं, पर यह सब बुद्धिमानों के जीविकोपार्जन का साधन बनकर रह गए। जन-जन के मानस में फेर-बदल करने का अभियान पूरा नहीं हुआ। बुद्धि सुधरी नहीं, अहं गया नहीं, परिणाम महाभारत के

दुर्बुद्धि के हाथ की कठपुतली; सारे साधन इसी के इर्द-गिर्द। अपने को ज्ञानी कहने व विद्वान-बुद्धिमान-बलवान समझने वाले, सभी दुर्बुद्धि के दास सिद्ध हुए। देश और समाज का वैभव एक बार फिर चकनाचूर हुआ, पर मैं अकेले चलता रहा—प्रयासों में शिथिलता नहीं आने दी।" महर्षि के स्वर में उत्साह था और देवर्षि के चेहरे पर उत्सुकता झलक रही थी।

कुछ रुककर बोले—"महाभारत की रचना की, मानवीय कुकृत्यों की वीभत्सता का चित्रण किया। सत्कर्मों की राह दिखाई, वह सभी कुछ ढूँढ़कर सँजोया, जिसका अवलंबन ले मानव सुधर सके, सँवर सके। बुद्धि, विगत से सीख सके; पर परिणाम वही ढाक के तीन पात।"

"तो क्या प्रयास से विरत हो गए महर्षि ?"—देवर्षि का स्वर था। "नहीं-विरत क्यों होता ? कर्तव्यनिष्ठा का ही दूसरा नाम मनुष्यता है। एक मनीषी का जो कर्तव्य है, वह अंतिम साँस तक अनवरत करता रहूँगा।"

"सचमुच यही है निष्ठा ?"

"हाँ तो 'महाभारत' का समुचित प्रभाव न देखकर यह सोच उभरी कि शायद, इतने विस्तृत ग्रंथ को लोग समयाभाव के कारण पढ़ न सके हों ? इस कारण ब्रह्मसूत्र की रचना की। सरल सूत्रों जीवन-जीने के आवश्यक तत्त्वों को सँजोया। एकता-समता की महत्ता बताई। एक ही परम सत्ता हर किसी में समाहित है, कहकर, भाईचारे की दिव्यता तुममें है—कहकर स्वयं को दिव्य बनाने, अपना उद्धार करने की प्रेरणा दी, पर हाय री मानवी बुद्धि ! तूने ग्रहणशीलता तो जैसी सीखी नहीं। पंडिताभिमानियों ने इस पर बुद्धि की कलाबाजियाँ खाते हुए तरह-तरह के भाष्य लिखने शुरू कर दिए, शास्त्रार्थ की कबड्डी खेलनी शुरू कर दी। जीवन-जीने के सूत्रों का यह ग्रंथ अखाड़ा बनकर रह गया।

"अब पुनः समाधान की तलाश में हूँ। अंतर्व्यथा का कारण यह नहीं है कि मेरे प्रयास असफल हो गए। अपितु मानव की दुर्दशा, दुर्मति-जन्य दुर्गति देखी नहीं जाती। असह्य बेचैनी है अंदर, पर क्या करूँ ? राह नहीं सूझ रही।" कहकर वह आशा भरी नजरों से देवर्षि की ओर देखने लगे।

देवर्षि का सत्परामर्श

"समाधान है।"

"क्या ?"—स्वर उल्लासपूर्ण था, जैसे सृष्टि का वैभव एक साथ आ जुड़ा हो।

"भाव संवेदनाओं का जागरण इसे दूसरे शब्द में सोई हुई आत्मा का जागरण भी कह सकते हैं।"

"और अधिक स्पष्ट करें ?"

"आपने मानव जीवन की विकृति को पहचाना, अब प्रकृति को और गहराई से पहचानिए, निदान मिल जाएगा।"

"क्या है प्रकृति ?"

"मनुष्य के सारे क्रिया-कलाप अहंजन्य हैं और बुद्धि-मन-इंद्रियाँ सब बेचारे इसी के गुलाम हैं। मानवी सत्ता का केंद्र आत्मा है, यह परमात्मा सत्ता, अर्थात सरसता, सक्रियता और उन्नत भावों के समुच्चय का अंश है। आत्मा का जागरण अर्थात उन्नत भावों, दिव्य संवेदनाओं का जागरण। न केवल जागृति वरन् सक्रियता, श्रेष्ठ कार्यों के लिए, दिव्य जीवन के लिए।

"पर भाव तो बहुत कोमल होते हैं"—महर्षि के स्वरों में हिचकिचाहट थी।

"नहीं, ये एक साथ कोमल और कठोर दोनों हैं। सत्प्रवृत्तियों के लिए पुष्प जैसे कोमल, उनमें सुगंध भरने वाले और दुष्प्रवृत्तियों के लिए वज्र की तरह, एक ही आघात में उन्हें छितरा देने वाले।" भावों के जागते ही उनका पहला प्रहार अहंकार पर होता है। उसके टूटते-बिखरते ही, मन और बुद्धि आत्मा के अनुगामी बन जाते हैं। मन तब उन्नत कल्पनाएँ करता है, बुद्धि हितकारक समाधान सोचती है। भाव संवेदनाओं का जागरण एकमेव समाधान है, व्यक्ति विशेष

कुमार्ग के भटकाव से निकालकर, सन्मार्ग पर लगा देने की क्षमता भाव-संवेदनाओं में ही है।"

"पर मानवी बुद्धि बड़ी विचित्र है। कहीं भावों की जगह कुत्सा न भड़का ले।"

"आपकी आशंका निराधार नहीं है महर्षि, किंतु इस कारण भयभीत होकर पीछे हटना आवश्यक नहीं है। आवश्यक है सावधानी-जागरूकता। भाव कर्मोन्मुख होंगे, लोक हितकारी लक्ष्यों के लिए ही भाव संवेदना का आह्वान किया जाएगा। भावों के अमृत को सद्विचारों के पात्रों में ही सँजोया जाएगा, विवेक की छन्नी से उन्हें छाना जाएगा, तो परिणाम सुखकारक ही होंगे। लेखनी से प्राण फूँकिए, जन-मानस के मर्म को इस तरह स्पर्श करिए कि हर किसी की संवेदना-सदाशयता फड़फड़ा उठे। आत्म-चेतना अकुलाकर कह उठे—**नत्वहं कामये राज्यम् न सौख्यं नापुर्नभवम्। कामये दुःख तप्तानां प्राणिनां आर्त नाशनम्।**

जन समूह की आत्मा अभी मरी नहीं है, मूर्छित भर है। इस मूर्छित लक्ष्मण को सचेतन, सत्कर्म में तत्पर और राम-काज में निरत करने के लिए संजीवनी चाहिए। यह संजीवनी है, भाव संवेदना। दे सकेंगे आप ? यदि दे सकें तो विश्वास करें, स्थिति कितनी ही जटिल क्यों न हो ? अँधेरा कितना ही सघन क्यों न हो ? आत्मा के दिव्य भावों का तेज प्रकाश इसे तहस-नहस करने में समर्थ हो सकेगा।

भाव चेतना का जागरण होते ही मनुष्य एक बार पुनः सिद्ध कर सकेगा, कि वह ईश्वर पुत्र है। दिव्य जीवन जीने में सक्षम है। वह धरती का देवता है और धरती को स्वर्गादपि गरीयसी बना सकता है। किंतु ...... ?" कहकर देवर्षि ने महर्षि की ओर देखा।

"किंतु क्या ?" व्यास के चेहरे पर दृढ़ता थी।

वेद व्यास के साथ उनके शिष्य परिकर को जुटना पड़ेगा। उनके द्वारा विनिर्मित संजीवनी को जन-जन तक पहुँचाने में।" आपके द्वारा सृजित भाव-मेघों को आपके शिष्य वायु की तरह धारण करके

जन-जन के हृदयों तक पहुँचाएँ; इस कार्य को युगधर्म, युगयज्ञ मानकर चलें, तभी सफलता संभव होगी।

"शिष्य परिकर अपना सर्वस्व होम कर भी यह युग परिवर्तन का यज्ञ पूरा करेगा।" महर्षि के शब्दों में विश्वास था।

"तो मानव जीवन को दिव्य बनने, आज की परिस्थितियाँ कल उलटने में देर नहीं।" देवर्षि मुस्कराए।

"मिल गया समाधान"—वेद व्यास ने भाव-विह्वल स्वरों में देवर्षि को माथा नवाया। वह जुट गए युग की भागवत रचने और शिष्यों द्वारा उसे जन-जन तक पहुँचाने में।

और नारद ! वे चल दिए, फिर किसी की संवेदनाओं को उमगाने और उसे समाधान सुझाने हेतु।

❑ ❑

अंतर्दृष्टि जागी—चैतन्य हो गए

समस्याएँ अनेक हैं। विग्रहों, संकटों, उलझनों का जखीरा इतना बड़ा है, कि इसे बाहर से देखने वाले की सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाए, किंतु जिसे अंतर्दृष्टि प्राप्त हो—वह आसानी से जान सकता है कि इस सबकी जड़ में निष्ठुरता है; इसके हटने पर ही समस्याएँ निपटेंगी। यही अंतर्दृष्टि प्राप्त हुई विश्वंभर मिश्र को और वह 'चैतन्य' हो गए।

उन दिनों वह गया धाम आए हुए थे। निमाई के साथ उनकी कीर्ति भी आई। उन्हें देखते ही लोग कहते—"अरे यह नवद्वीप के वही निमाई हैं, जिनके पांडित्य का लोहा समूचा बंगाल मानता है। अभी पिछले दिनों इन्होंने कश्मीरी पंडित को ऐसा पछाड़ा कि उसे भागते ही बना। शास्त्रार्थ में इनका कोई सानी नहीं।" जितने मुँह,

चापलूसी, निदंकों के कटाक्ष, प्रसिद्धि पर पहुँचे हुए व्यक्ति की संपदा हैं। इससे अधिक कोई और कुछ देगा भी क्या ?

गया धाम में रह रहे संत ईश्वरपुरी ने ये सभी किस्से सुने। सुनी हुई बातें यद्यपि अधिकांशतया अतिरंजित होती हैं, फिर भी उन्होंने अनुमान लगाया, अवश्य उसके पास प्रतिभा होगी। यदि वह प्रतिभा—भाव-श्रद्धा के साथ जुड़ जाएँ तो ? इस सोच ने उन्हें चल पड़ने के लिए विवश कर दिया। रास्ते भर सोचते जा रहे थे—"तो वह लोगों का जीवन सँवारने के साथ अनेकों को राह सुझा सकेगा। प्रतिभा शरीर और मन की चरम सक्रियता है। भाव-श्रद्धा से न जुड़ पाने के कारण यह अहंकार की चाकरी करती है और जैसे ही अहं का झंडा ऊँचा रहे, विलासिता-वैभव के सरंजाम जुटे" वही करती रहती है। उन्नत भावों से जुड़ने पर तो, सारी स्थिति ही उलट जाती है। फिर तो अंदर की तड़पन और बेचैनी उसे "सर्वजन हिताय-सर्वजन सुखाय" क्रियाशील होने के लिए विवश करती है।

रास्ते भर यही चिंतन चलता रहा, कब उनके डेरे के पास आ पहुँचे, पता ही नहीं चला। एक से पूछा—"बंगाल के निमाई यहीं ठहरे हैं।"

जवाब मिला—"पास वाले डेरे में हैं।"

अंदर जाने पर देखा—एक गौर वर्ण का युवक शास्त्र चर्चा कर रहा है।

वह भी एक कोने में बैठ गए—चर्चा चलती रही। चर्चा समाप्त होने पर उनको छोड़कर एक-एक करके सभी चले गए।

चर्चा कर रहे युवक ने उनकी ओर देखकर पूछा—

"आपका प्रयोजन ?"

"एक जिज्ञासा है ?"

"कहिए—"

"क्या सचमुच आप शास्त्र का अर्थ जानते हैं ?"

—सुनने वाले का अंतर हिल उठा। पूछा, "क्या मतलब ?"

सुनने वाला चुप था—आज पहली बार किसी ने उसकी बुद्धि को फटकारा था।

"गौरी, गजनी, ऐबक ने—भारत भूमि को न जाने कितना कुचला ? बख्तियार के अत्याचारों ने बंगाल को मसल दिया। आज जबकि मनुष्य का आत्म-विश्वास खो गया है। वह भूल गया है कि वह भी कुछ अच्छा कर सकता है। औरों के अनीति-अन्याय को देखकर उसने उन्हें स्वीकार करना शुरू कर दिया। ऐसे में भी कौशल केवल वाक् को लेकर व्यस्त है। क्या यह विडंबना नहीं है ?" संत के उद्‍गार वाणी से फूट पड़े।

गौर वर्ण के युवक ने महसूस किया कि यह वाक्य रचना सिर्फ एक साथ गूँथे हुए वजनदार शब्द नहीं हैं—वरन् इसके पीछे संत की पीड़ा है, तड़प है। शब्दों ने उसके अंतर को मथ दिया। श्मशान में जलती लाशों को देखकर दूसरों को भी अपनी मौत याद आने लगती है। विवाह के संरजाम देखकर जिंदगी की रंगीनी सूझती है। इसी तरह जिसके अंतर में मानवता के प्रति तड़प है, जिसका हृदय रह-रहकर मनुष्यता के लिए चीत्कार कर उठता है, वही दूसरों में ऐसी दशा उत्पन्न कर सकता है। युवक के आँखों पर छाया झूठे पांडित्य का मोतियाबिंद छटने लगा था। उसे कहने के लिए विवश होना पड़ा—"आप ठीक कहते हैं; पर उपाय क्या है ?"

"मनुष्य को उसकी खो गई मनुष्यता ढूँढ़कर देनी होगी। उसके मर्म को स्पर्श करना पड़ेगा। भाव चेतना के न रहने पर जीवित मनुष्य भी लाश है, जो स्वयं सड़ती और वातावरण को घिनौना बनाती है। इसके रहने पर ही मनुष्य समर्थ और सुंदर बनता है, पीड़ा और पतन के निवारण के लिए दौड़ पड़ता है। मुर्दे का क्या ? उसकी तो पहचान ही है, अकर्मण्यता और निष्ठुरता। उसे पास बैठे लोगों का करुण विलाप भी नहीं सुनाई देता। आज चारों ओर ऐसे ही मुर्दों की भरमार है। इन्हें जीवित कर सकोगे ?"

"कैसे ?"

"भाव-श्रद्धा को जगाकर।"

"पर जब समस्याएँ बुद्धि की हैं तो समाधान भी बुद्धि के होने

"ठीक कहते हो, पर गरम लोहे को ठंडा लोहा काटता है। दुर्बुद्धि दाहक-तप्त लोहा तो "भाव इन्हें परिमार्जित, सुडौल और काम-लायक बनाने वाला शीतल लोहा। यही एकमात्र निदान है।"

निमाई एक-एक शब्द को पी रहे थे, उनके मुख से निकला—"आज शास्त्रों का मर्म पता चला। अब तक मैं मुर्दा था, आपने मुझे चैतन्य बना दिया।" गुरु चरणों की धूल मस्तक पर लगाई। गुरु-शिष्य दोनों के हृदय भरे थे। अब एक का दर्द दूसरे का दर्द था।

नदिया वापस लौटे; उनके जीवन का कायापलट देखकर, सभी आश्चर्यचकित थे—अरे यह क्या ? एक दिन रास्ते में एक कोढ़ी दिखा, उपेक्षित, तिरस्कृत सभी मुँह मोड़कर चले जा रहे थे। चैतन्य को गुरु वाणी याद आई—"मुर्दों को औरों का विलाप नहीं सुनाई पड़ता, दूसरों के कष्ट नहीं दिखाई पड़ते।" प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या ? विश्वास हुआ—सचमुच ये मुर्दे हैं। उन्होंने कोढ़ी को उठाया, घाव धोए, औषधि लगाई। सेवा कार्य के साथ ही, संकीर्तन मंडल गठित करने शुरू किए, मुर्दों में प्राण-संचार करने के लिए। एक चैतन्य ने अनेकों में चेतना जगाई। जो दूसरे जगे उन्होंने औरों में चेतना का संचार किया। निमाई के साथ निताई, श्रीवास, गदाधर जैसे अनेकों आ मिले। शक संवत १४५५ तक उनके प्रयास चलते रहे। सबको स्वीकार करना पड़ा, भाव श्रद्धा के प्रकाश में ही मनुष्य अपनी खोई मनुष्यता ढूँढ़ सकता है।

खोयी मनुष्यता मिल गई, ऐसों की एक ही पहचान है, मनुष्य वही, जो मनुष्य के लिए मरे। यों मरते तो सभी हैं, पर सारा जीवन ईंट-पत्थर, कंकड़, कागज बटोरते। इन्हें भूत-पलीत कहा जाए, तो कोई गैर नहीं। ये श्मशान-कब्रिस्तान में जगह घेरकर बैठ जाते हैं और उधर से निकलने वालों को डराते-भगाते रहते हैं। आदमी भला ऐसी हरकतें क्यों कर सकेगा ? संवेदनाहीनों की दशा प्रेतों जैसी और संवेदनाशीलों की स्थिति जीते-जागते आदमियों की-सी है। इनमें

जगी संवेदना ने नारी चेतना को झकझोरा

मीरा ने जीवंत मनुष्य होना स्वीकारा और उसकी हर कसौटी पर अपने को खरा साबित किया। यह चित्तौड़ की राजरानी थी। वैभव, पद, अधिकार, सम्मान और भी बहुत कुछ जिसकी आशा-अपेक्षा की जा सकती है, वह सब उसके पास था। नहीं थी सिर्फ एक चीज, मानव हितों के लिए कुछ कर गुजरने की छूट। झूठी मर्यादाओं, लोक प्रचलनों की दुहाई देकर देवर, ननद, समूचा राज-परिवार, सभी आत्मा का गला घोंटने को तत्पर थे। उन्हें सब कुछ स्वीकार था, सिवाय इसके कि मीरा जनक्रांति का बीज बोए, नारी चेतना को झकझोरने के लिए प्रकाश-दीप बनने के लिए आगे आए।

प्रेतों और मनुष्यों की सारी बातें ही उलटी हैं, एक को अंधेरा अच्छा लगता है दूसरे को उजाला; एक को दूसरों को परेशान करना भाता है, दूसरे को सहयोग करना। पहले के झुंड में दूसरों का रहना बड़ी दुःखद स्थिति है। एक तरफ अवरोध, दूसरी ओर अंदर की तड़प, बेचैनी, आकुलता। मीरा के मन पर मनों भार था, उसे कोई अनुभवी ही समझा सकता था। वह महलों में पड़ी बिलखा करती—"घायल की गति घायल जाने की जिंण घायल होय। सूली ऊपर सेज हमारी किस विधि सोवण होय।"

मीरा की बेचैनी प्रथा-प्रचलनों के जाल-जंजाल में जकड़े समाज के लिए थी। उनका दुःख-दर्द समूची नारी जाति का था। करुणा उभरी, इसकी एक ही पहचान है, अपनी आवश्यकताएँ बिसरी और दूसरी की जरूरतें याद आईं। इसके बिना किसी पेड़ की सूखी डाल को चीरना-फाड़ना और किसी भोले-भाले आदमी की बोटी-बोटी नोच लेना एक जैसा लगता है, पर उनका अंतर तो करुणा से भरा था।

उन दिनों वह घर से बाहर थी, द्वार-द्वार जाकर बता रही थी कि नारी-पुरुष प्रत्येक क्षेत्र में समान हैं। महिलाएँ उन्हें आश्चर्यचकित गर्व से देखतीं। एक दिन राजस्थान की एक महिला केसर बाई ने उनसे पूछ ही लिया—"बहिन ! यह पुरुषों का काम क्यों कर रही हैं ?"

"यह पुरुषों का काम है ?"

"और नहीं तो क्या .... ?"

"सही कहा जाए तो, यह महिलाओं का काम है।"

"कैसे .... ?"

"भाव श्रद्धा की सघनता नारी की विशेषताएँ है। उसमें देने की प्रवृत्ति है। स्वार्थों को परहित में ठुकरा देना सिर्फ उसी के लिए स्वाभाविक है। इसी कारण वह प्राणों को देकर बालक को तैयार करती है। कष्ट सहकर परिवार को संगठित बनाए रहती है। आवश्यकता उसे और अधिक व्यापक बनाने की है।

"सही है" केसर बाई को तथ्य समझ में आ चुका था।

षड्यंत्रकारियों के प्रयास चलते रहे, साँप पिटारी, जहर का प्याला, सभी तरह के शिगूफे रचे गए। पर दैवी चेतना का संरक्षण इन सभी से शक्तिशाली है। उन्होंने लिख भेजा—"थारी मारी न मरूँ, मेरो राख्या हारा और।"

प्रश्न यह नहीं है कि मीरा को सफलता कितनी मिली ? अंदर पीड़ा-पतन के बंधनों को तोड़ने के लिए बेचैनी उठे, पग क्रियाशीलता की ओर बढ़े—यह इतनी बड़ी सफलता है, जिस पर हजारों हजार सफलताएँ न्यौछावर हैं।

संवत १६३० वि. तक वह जीवित रहीं। जीवित रहने का मतलब श्वाँस-प्रश्वाँस की गति से नहीं, वरन् उस दीप के समान है, जो अनेकों बुझे जीवनों में नव ज्योति का संचार करता है। घर-घर जाकर अपना दर्द बाँटती रहीं, प्रत्येक अंतस् में एक कसक पैदा करने की कोशिश करती रहीं।

सक्रिय समर्पण कैसा हो ?

कसक पैदा हुई, इसका चिह्न है, विलासिता का पूरी तरह छूटना। जीवन की रंगीली, मौज-मस्ती फिर उसे किसी तरह रास नहीं आ सकती। नवयुवती आंडाल के कलेजे में ऐसी ही कसक उपजी। पिता, सगे-संबंधी विवाह के लिए जोर-जबरदस्ती कर रहे थे। उसने पूछा, " विवाह क्यों .... ?"

"घर बसाने के लिए ...... ।"

"तो अभी कौन-सा उजड़ा है ?"

"बात नया घर बसाने की है।"

"तो विवाह का मतलब घर बसाना है ?"

"हाँ।"

तो जब इतने घर उजड़ रहे हैं, स्वयं भगवान का घर टूट-फूट रहा है, ऐसे में नया बसाने की बात सोचना कितनी मूर्खता है ? जब बसाना ही है, तो इसी को क्यों न कायदे-करीने से बसाया जाए ?

घर वालों के पास उसका कोई उत्तर न था। उसने घोषित कर दिया—भगवान ही एक मात्र मेरे पति हैं।

घर के सदस्यों के मन में अभी भी एक क्षीण आशा थी, क शायद वह घर में बैठकर कुछ पूजा-पाठ करे ?

पर क्रांतिकारियों का हर कदम अनूठा होता है। उसने भक्ति की नई व्याख्या की। संसार और कुछ नहीं परमात्मा का विराट स्वरूप है। आत्मा के रूप में वह हर किसी के अंदर विद्यमान है। आत्म चेतना को जगाना और उस भाव-धन को अर्पित करना ही भक्ति है।

समर्पण निष्क्रिय क्यों ? आत्म चेतना की सघन भावनाओं का

विश्व-उद्यान को सुखद-सुंदर बनाने के लिए मचल उठे, तब समझना चाहिए कि समर्पण की क्रिया शुरू हुई।

उन दिनों मध्यकाल का प्रथम चरण था। उन्होंने अपने प्रयासों से अलवारों में नई चेतना फूँकी। साफ शब्दों में घोषित किया—"भक्त वही है, जिसके लिए जन-जन का दर्द उसका अपना दर्द हो अन्यथा वह विभक्त है— भगवान से सर्वथा अलग-थलग। भगवान हाथी को बचाने नंगे पाँव भागता है, घायल पड़े गीध को गोद में उठाता है और स्वयं भक्त कहने वाले के अंतर में पर-पीड़ा की अनुभूति न उभरे, यह किसी तरह संभव नहीं।"

अलवारों की टोली लेकर वह निकल पड़ी। वाणी माध्यम बनी उदात्त भावनाओं से दूसरे के अंतराल को रंगने का। वाणी ही नहीं, लेखनी भी उठाई, तिरुप्पार्वे काव्य की रचना की, जिसके प्रत्येक शब्द से करुणा झरती है। इस काव्य के द्वारा उन्होंने बताया, जिसे शांति कहते हैं, वह क्रियाशीलता की चरम-अवस्था है। लट्टू जब पूरी तेजी के साथ घूमता है, तब शांत-स्थिर दिखता है।

कावेरी के तटवर्ती समूचे क्षेत्र को उन्होंने मथ डाला। स्वयं के और अपने सहयोगियों के सम्मिलित प्रयासों से, प्रत्येक अंतर में सोए दिव्य-भावों को उभारती-विकसित करने का प्रयास करती। भक्ति की भाषा में हरेक से कहती, "क्षीर सागर तुम्हारे अपने अंदर है। इस शेषशायी को झकझोरकर उठाओ, फिर देखो, तुम्हारा अपना घर बैकुंठ हो जाएगा।" विजय नगरम् का स्वर्णकाल उन्हीं के अथक प्रयासों की परिणति था। बाद में वहाँ के महाराज कृष्णदेव राय ने "आभुक्तभाल्दम्" की रचना कर उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

❑ ❑

संकल्प जागा तो निष्ठुर भी बदला

श्रद्धांजलि उसी को अर्पित की जाती है, जिसने अपने अंदर की इस दिव्य संपदा को जीवन की सतह पर उभारा हो। जिसके जीवन को देखकर औरों के मन में कभी करुणा का प्रवाह उमगने लगे। हर किसी के जीवन में वैसे अवसर आते हैं, यहाँ तक कि नीरस-निष्करुण-निष्ठुर कहे जाने वाले पाषाण के भी; जिस क्षण से वह अपने समूचे क्रम को उलटने के लिए तैयार हो जाता है। अद्भुत होता है वह क्षण, जब अभी तक जो चोट पहुँचाने, सिर फोड़ने का काम करता था वह, संकल्प लेता है कि अब से वह घनीभूत भावपुंज बनेगा, दूसरों की दिव्यता को उमगाने-छलकाने में सहायक बनेगा। संकल्पित होते ही हथौड़ी की चोट के साथ धारदार छैनी के हर घात के साथ निकाल-फेंकता है, अपनी क्रूरता को, निष्ठुरता को, उत्पीड़न की वृत्ति को। लगातार की यह अनौखी तपश्चर्या उसे भावों की प्रतिमा का रूप देती है। जन-जन को दिखाई देता है, यह अनोखा परिवर्तन। हर कोई आश्चर्य व हर्ष से विभोर हो कहता है "अरे उत्पीड़क अब घावों में मरहम़ लगाने वाला हो गया। चलकर हम भी सीखें, यह अनोखी कला।" आकर फूल चढ़ाते हैं, माथा नवाते हैं और आशीर्वाद माँगते हैं। बदले में वह एक ही बात कहता है, मेरी ओर देखो। हर क्षण हो सकता है, परिवर्तन का पर्व। इसी पल से अपने को बदलना शुरू कर दो।

ऐसा ही एक चमत्कारी क्षण आया, अशोक के जीवन में। उन दिनों वह अशोक महान न होकर चंड-अशोक था। कलिंग के युद्ध का शिविर। आज हुई विजय के पश्चात उल्लास का पर्व मनाया जा रहा था। अहंकार व सत्ता के मद में चूर सैनिक अधिकारी घूम रहे थे। इसी बीच सम्राट ने महा सेनापति को बुलाया। कुछ ही क्षणों के बाद वह सम्राट के शिविर में थे।

—सेनापति ! यद्ध बंदी कितने हैं ?

—"सिर्फ एक।"

"एक !" अशोक के आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

"बाकी कलिंग के ...... किशोर और वृद्ध, उन्होंने भी तलवार उठा ली थी सम्राट।

"उन्होंने भी !"

"हाँ"।

"तब तो अब कलिंग में महिलाएँ भर रह गईं।"

"वह भी नहीं रहीं।"

"क्यों ?"

"अंतिम लड़ाई हमें उन्हीं से लड़नी पड़ी।"

"ओह !" कहकर वह किसी चिंतन में डूब गया।

"अच्छा युद्धबंदी को हाजिर करो।"

"जो आज्ञा।"

थोड़ी ही देर बाद एक लंगड़ा, झुर्रीदार चेहरे वाला बूढ़ा सामने था—"तो तुम हो !"

"हाँ मैं ही हूँ आपकी विजय का उपहार" बूढ़े के स्वरों में रोष था। "विजय का उपहार और तुम"—कहकर सम्राट हँस पड़ा। "तो मेरी वीरता का सामना कलिंग निवासी नहीं कर सके। क्यों सेनापति ?" कहकर उसने पास खड़े सेनापति की ओर देखा।

वह चुप था।

"वीरता नहीं, क्रूरता कहिए"—बूढ़ा बोल पड़ा।

"क्रूरता।"

"हाँ—लाशों के लोभी वीर नहीं हुआ करते। कुत्ते, गिद्ध, स्यारों के चेहरों पर भी लाशों को देखकर प्रसन्नता नाच उठती है, पर उन्हें वीर नहीं कहा जा सकता।"

"चुप रहो" .... सम्राट जैसे चीख पड़ा।

"कौन चुप रहे ? नृशंस अथवा वह, जिसका रोम-रोम पीड़ा से चीत्कार कर रहा है।" बूढ़े ने विषैली हँसी हँसते हुए कहा—"अपनी क्रूरता को जाकर युद्धभूमि में देखना, वहाँ हम जैसे कुछ और मिलेंगे।"

"इस बूढ़े को यहाँ से हटाओ"—सम्राट ने झल्लाकर कहा। सम्राट के कथन का बूढ़े पर कोई असर न था। उसने जाते-जाते कहा—"सताए हुओं के कष्ट हरने, उत्पीड़ितों के उत्पीड़न को दूर करने का नाम वीरता है। वीरों के लिए कहा गया है, 'क्षत्रियाः त्यक्तजीविताः'—जो दूसरे के लिए स्वयं के जीवन का मोह भी त्याग दें। जो हँसती-खेलती जिंदगियाँ बरबाद करें, वह क्रूर है, उन्मादी है।" शिविर से बाहर ले जा रहे बूढ़े के ये स्वर अशोक के कानों में हथौड़े की तरह बजने लगे।

रात बेचैनी में कटी, वीरता और क्रूरता की व्याख्या उसके अंतर को कचोटती रही तो क्या वह वीर नहीं ? फिर वीरता के लिए किया गया यह सब कुछ ? प्रश्न शून्य में विलीन हो गया कोई उत्तर नहीं था।

सुबह उठते ही उसने कहा, "उस बूढ़े को बुलाओ।" सैनिक दौड़ पड़े। थोड़ी देर बाद वे फिर हाजिर थे, पर खाली हाथ, सिर झुकाए।

"क्यों ?"

"वह मर गया सम्राट।"

"अरे !"

थोड़ी ही देर बाद सेनापति हाजिर हुए, उन्होंने बताया राजवैद्य ने परीक्षा करके घोषित किया है कि असह्य मानसिक पीड़ा का आघात उसे सहन नहीं हुआ और उसने दम तोड़ दिया।

"वह भी गया"—अशोक बुदबुदाया।

अपराह्न में सम्राट अपने मंत्रियों, सैनिकों, अधिकारियों के साथ युद्ध भूमि में थे। वहाँ थी सिर्फ लाशें, हाथी, घोड़े, आदमी, औरतों की कटे-बिखरे-छितराए अंग। जिन्हें कुत्ते, सियार, गिद्ध इधर-उधर घसीट रहे थे और खुश हो रहे थे।

उसे रह-रहकर बूढ़े की बातें याद आने लगीं। किले के अंदर घुसने पर मिला राख का ढेर तो उसने विजय किया है—श्मशान को। अब वह किन पर शासन करेगा लाशों के ढेर पर ? उसकी

बेचैनी बढ़ती जा रही थी। सम्राट के अंतराल में सोई आत्म-चेतना अँगड़ाइयाँ ले रही थी।

वह शिविर में लौट आया। अब उसके मन में आज से सात साल पहले के दृश्य घूम रहे थे—भाइयों के साथ लड़े गए भीषण युद्ध—नर संहार। विनाश-ध्वंस-हँसते को रुलाना, जिंदे को मारना, मरे को कुचलना—यही था अब तक। यही था अब तक का उसका कर्तृत्व, जिसके बलबूते वह वीर कहलाने की डींग हाँकता आया था। पर अब .... ?

शिविर उखड़ रहे थे। वह मगध की ओर जा रहा था, पर मन में था, परिवर्तन का संकल्प; क्रूरता को वीरता में बदलने का। न उसे बूढ़ा भूल रहा था और न कलिंग के लाखों लोगों का सर्वनाश। वह रक्त की प्रबल धारा, हताहतों का आर्तनाद। अंदर की बेचैनी की प्रबलता बढ़ती जा रही थी।

मगध पहुँचकर उसने आचार्य उपगुप्त को बुलवाया।

आचार्य आए।

उसका पहला प्रश्न था—वीरता और क्रूरता क्या है ?

"त्रास से घिरे लोगों को बचाने, उनको सुख पहुँचाने हेतु अपने जीवन तक के मोह को तिलांजलि देकर जुट पड़ने का नाम वीरता है और क्रूरता ...... ।" उसने सम्राट के चेहरे की ओर देखा। कुछ रुककर कहना शुरू किया—"बसी हुई बस्तियों को उजाड़ देना, खड़ी फसल में आग लगा देना, शोषण, उत्पीड़न के चक्र चलाना, इसी का नाम क्रूरता है।"

कैसा साम्य है, उस बूढ़े के और इन आचार्य के कथन में, अशोक ने मन ही मन सोचा।

"आचार्य ! मैं वीर बन सकता हूँ ?" सम्राट के स्वरों में पश्चात्ताप का पुट था।

"हाँ क्यों नहीं ?" आचार्य की वाणी में मृदुलता थी।

"पर किस तरह ?" अब वाणी में उल्लास था।

"अंदर के दिव्य भावों को जगाकर। इन्हें जीवन के सक्रिय क्षेत्र

"क्या पहिचान है, इन भावों के जगने की ?"

"उदार आत्मीयता, अपनत्व का विस्तार, फिर कोई पराया नहीं रह जाता। दूसरों की तकलीफें स्वयं को निष्क्रिय, निठल्ला बने रहने नहीं देगी। पैर उस ओर स्वयं बढ़ते, हाथ सेवा में जुटे बिना नहीं रहते ...... एक और चिह्न है ?"

"वह क्या है ? अब स्वरों में उत्सुकता थी।"

"स्वयं के जीवन का स्तर समाज के सामान्य नागरिक जैसा हुआ कि नहीं ? यदि मन के किसी कोने में अभी वैभव को पाने का लालच, सुविधा-संवर्धन की आतुरता है; बड़प्पन जताने, रौब गाँठने की ललक है, तो समझना चाहिए कि भावों का स्रोत अभी खुला नहीं है।"

"भावों का स्रोत खुले और अविरल बहता रहे, क्या इसके लिए कोई उपाय नहीं है ?"

"है क्यों नहीं।"

"क्या ?"

"स्वाध्याय और सत्संग। युगावतार भगवान तथागत के चिंतन को पियो। जिन्होंने उनके चिंतन के अनुरूप जीना शुरू किया है, उनका सत्संग करो। रोज न सही तो साप्ताहिक ही सही। ऐसे परिव्राजकों को आज बड़ी संख्या में तैयार किया जा रहा है, जो घूम-घूमकर जनमानस को युग की भावधारा से अनुप्राणित करें। उनके मर्म को स्पर्श कर संवेदनाओं को उभारें।"

बात समझ में आ गई। उसके उत्साह का पारावार न था। चंड-अशोक के कदम अब अशोक महान की ओर बढ़ने लगे। उसने भली-भाँति जान लिया था कि करुणा की दिव्यता और महत्त्वाकांक्षाओं की मलीनता, दोनों परस्पर विरोधी हैं। जहाँ एक रहेगी, वहाँ दूसरे का ठहरना-टिकना बिल्कुल असंभव है। एक की प्रेरणा है कि अपनी सामर्थ्य के कण-कण को जनहित में लगाओ, जबकि दूसरी यही सिखाती रहती है कि किस चालाकी से दूसरों की आवश्यकताओं को भी हड़पकर अपने और लड़के-नातियों के लिए जमा किया जाए ?

अशोक की जाग्रत आत्मचेतना ने महत्त्वाकांक्षा को ठोकर मारकर स्वयं के व्यक्तित्व से बाहर निकाल फेंका था। क्रूरता को तोड़-मरोड़कर कूड़े के ढेर में डाल दिया और जुट गया शांति और सद्भाव की भाव धारा बहाने में। समूचे साम्राज्य को प्रेम के शीतल जल से सींचना शुरू किया। साम्राज्य का संचालन ही नहीं, व्यक्तिगत जीवन भी अब अपने परिवर्तित स्वरूप में था। सभी के कहने-सुनने मना करने के बाद भी उसने अपनी आवश्यकताओं को कम कर लिया। समाज का सबसे गरीब अधिकतर जिस तरह जीता है, सम्राट उसी तरह जीने लगा। ऐतिहासिक विवरण के अनुसार उसकी कुल संपत्ति थी, एक चीवर और एक सुई। केशों के लिए एक छुरा, जल छानने के लिए एक छलनी और एक तूंबा जो उसका अभिन्न संगी बना। उसने एक शिलालेख में कहा है—"मैं सभी जनों के मंगल के लिए कार्य करूँगा। सभी के हित में मेरा हित है, इससे मैं कभी विमुख न रहूँगा। जीवन की सफलता के यही सूत्र हैं।"

इतना सब करने के बाद उसे हमेशा एक ही टीस बनी रहती, सत्प्रवृत्तियों के संवर्धन के निमित्त अधिकतम मैं क्या करूँ ? एक दिन वह स्वयं आचार्य उपगुप्त के पास गया। पूछा—"मैं और अधिक क्या करूँ ?"

"संघ के संचालन के लिए अपनी संपत्ति का एक अंश और समाज के जन-जन तक सद्विचारों का सरिता-प्रवाह फैलाने के लिए समय। सद्विचारों का यह प्रवाह अंतस्थल के कलुषों-कल्मषों को धोता और आत्मसत्ता को झकझोर कर जगाता है।

संपत्ति की बात तो ठीक है, पर मैं स्वयं बूढ़ा हो चला हूँ, यदि अपने पुत्र को जन-चेतना को जगाने हेतु समर्पित कर दूँ तो ?"

"अत्युत्तम विचार है।"

पुत्र महेंद्र और पुत्री संघमित्रा ने पिता का बदला हुआ स्वरूप देखा था। देवानाप्रिय अशोक की वह सात्त्विकता जन कल्याण की उसी टीस को अनुभव किया था, जिसकी ऊर्जा दिन-रात, उन्हें क्रियाशील बनाए रखती थी।

पिता के आदर्शों पर पुत्र को चलने का अवसर मिल रहा है, उतना ही नहीं, उससे अधिक। इससे अधिक सौभाग्य क्या ? पुत्र

भाई और बहिन दोनों तैयार हुए। उन्हें समाज देवता की अर्चना हेतु समर्पित करते हुए उनकी आँखों में आँसू थे। दुःख के नहीं प्रसन्नता के। सम्राट ने इस अवसर पर उपस्थित जन-समूह को संबोधित करते हुए कहा—"पिता संतान को विरासत में कुछ देता है, सारी जिंदगी की जोड़ी हुई कमाई उसे सौंपता है। मैं भी अपने बेटे-बेटी को जिंदगी की कमाई के रूप में अपने कलेजे की कसक दे रहा हूँ। वह बेचैनी दे रहा हूँ, जिसकी प्रचंड ऊर्जा मुझे अनवरत सक्रिय बनाए रखती है।"

महेंद्र और संघमित्रा दोनों के मुख से एक साथ निकला—"हम धन्य हुए ऐसी विरासत पाकर।"

संतान और पिता एक-दूसरे से अलग हुए। पर अलग कहाँ ? भावों के सदृश्य सेतु से वह सघनता से जुड़े थे। ईसा पूर्व २३२वें साल तक वह जीवित रहे। परवर्ती जीवन में उन्होंने स्वयं प्रवज्या की। अपने कर्तृत्व के माध्यम से बताया कि यथार्थ में वीरता, वह संवेदनशील जीवन है, जो दूसरों की तकलीफों को दूर करने के लिए तत्पर होता है और वैसा ही करने की प्रेरणा देता है।

❑ ❑

संवेदना चैन से नहीं बैठने देती

अंदर में बैठे हुए आत्म देवता के जागने पर कुछ किए बिना रहा नहीं जाता। साधन-सुविधाएँ नहीं हैं, हम असहाय और असमर्थ हैं; यह सब बहाने उसके अँगड़ाइयाँ लेते ही भाग जाते हैं। नाजरथ वासी ईसा के पास क्या था ? पिता यूसुफ गाँव के साधारण बढ़ई, माँ अशिक्षित। पालन-पोषण गड़रियों के बीच हुआ। वह स्वयं भी पी. एच. डी., डी. लिट. की उपाधियाँ नहीं बटोर पाए। फिर ऐसा क्या था उनमें, जिसके कारण वह आत्म प्रकाश के महान संदेशवाहक बन सके ? बीतते युग उन्हें मलिन नहीं कर पाए, प्रबल से प्रबलतर होते जा रहे हैं।

सारे अभावों के बावजूद उनमें थी, करुणा की आंतरिक संपदा,

बने। बस यही था, उनका सब कुछ, जिसके बल पर उन्होंने रोते-बिलखते हुओं के आँसू पोंछना शुरू किया। दुःखियों के चेहरों पर वापस मुस्कान ला दी।

एक दिन जब वह समुद्र के किनारे टहलते हुए जा रहे थे, देखा कि किनारे बैठे कुछ मछुआरे परेशान हैं; लड़-झगड़ रहे हैं। पूछा, "बात क्या है ? क्यों परेशान हो ?" पता चला परेशानी रोटी की है।

"अरे बस ! तुम सब लोग अपनी-अपनी रोटियाँ एक जगह जमा करो—और एक साथ खाना शुरू करो।" सभी ने उनका कहा मान लिया। रोटियों के ढेर से सभी एक-एक उठाकर खाने लगे। बीच में वह प्रेमपूर्वक समझाते जा रहे थे—"अपने साथ औरों का भी ध्यान रखना चाहिए। रोटी में भूखे का हक है। पेट भरने पर भी इसे समेटकर रखना अपराध है।" सभी खा चुके, देख अभी दो रोटियाँ बची हैं। सबको बड़ा आश्चर्य था, यह कैसे संभव हुआ ? उन्होंने बताया, व्यक्तिगत जीवन की पारिवारिक, सामाजिक जीवन की समस्याओं का एक ही कारण है—निष्ठुरता। समाधान एक ही है, सरसता। इसके बिना समस्याओं की उलझी डोर अधिकाधिक उलझती जाएगी, सुलझाने का कोई चारा ही नहीं। सभी ने एक साथ हामी भरी ये ईसा के पहले शिष्य थे।

उनके उपदेशों की, चमत्कारों की ख्याति बढ़ गई। प्रसार यहाँ तक हुआ कि सभी कहने लगे कि वह मुर्दों में प्राण फूँकते हैं। कथन में सच्चाई थी। उनके पास था—संवेदनाओं से लबालब भरा अमृत कलश, जिसको वह मर्मस्पर्शी वाणी द्वारा छिड़ककर नूतन प्राणों का संचार करते थे।

एक धनी युवक ने एक बार ईसा से पूछा—"प्रभु ! स्वर्ग के राज्य की प्राप्ति के लिए क्या करूँ ?" वह बोले—"तुममें पवित्र आत्मा नहीं उतरी। यहाँ से जाकर जीवनोपयोगी वस्तुओं को छोड़कर शेष सारी संपत्ति बेच दो, जो धन प्राप्त हो, उससे जन-जन की विकलता दूर करने में जुट पड़ो। तुम्हारे अंदर-बाहर स्वर्ग का राज्य प्रकट हो जाएगा। धनी युवक यह सब सुनकर उदास हो गया व दुःखी होकर चला गया। अपनी अपार संपत्ति के मोह को वह नहीं त्याग पाया। ईसा हँसते हुए सबसे कहने लगे—"सुई के छेद से ऊँट निकल जाए, यह संभव है; पर धन बटोरने वाला स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं पा सकता।"

एक बार वह ऐसे गाँव में जा पहुँचे, जहाँ के निवासी बहुत आंतकित थे। डरे-सहमे जिस किसी तरह जिंदगी के दिन काट रहे थे। पूछने पर पता लगा, यहाँ जेकस नाम का क्रूर व्यक्ति रहता है। उसका काम है, शराब घर चलाना। गरीबों-मजदूरों को पहले शराब पीने के लिए प्रोत्साहित करना, बाद में उनसे मार-पीट कर वसूली करना।

दुर्व्यसनों की लत में लगे लोगों के पास भला पूँजी कहाँ ? अगर होती भी है, तो धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है। अगर वह किसी गरीब आदमी को लगे, तब तो उनके परिवार का अमन-चैन भी जाता रहता है। परिजनों को भूखा-नंगा, रोगी-बीमार छोड़कर व्यसनों की नाली में धन और शारीरिक शक्ति को बहाता रहता है। जेकस ऐसे लोगों को उधार देता, फिर बड़ी बेरहमी से अपना पैसा वसूल लेता। इसके अलावा सम्राट ने उस पर टैक्स वसूली का काम और सौंप दिया था। जिस समय वह टैक्स वसूली के लिए निकलता, उसका रूप ही बदल जाया करता। हाथों से कोड़ा फटकारते उसे देखकर गाँववासी घरों में जा छिपते, खेतों-जंगलों में भाग जाते। जो पकड़ में आ जाता, उसे निर्मम यातनाएँ सहनी पड़ती।

सारी कहानी सुन, जीसस ने पास खड़े शिष्यों की ओर देखा, कहा—"एक ही निष्ठुरता सैकड़ों को तबाह कर रही है। बात यहीं तक रहती, तब भी गनीमत थी। व्यसनों के लालची धीरे-धीरे पूर्ण हो जाएँगे और वह अपनी पत्नी, बच्चों का जीवन नरक-निर्दय बना देंगे। उपाय एक ही है, उसमें जिस किसी तरह सरसता का संचार किया जाए।"

"पर कैसे .... ?" शिष्यों ने पूछा।

"मैं स्वयं जेकस के घर जाऊँगा और उसके अंदर सोई-कुम्हलाई-मुरझाई मानवीय-संवेदना को जगाऊँगा।"

"आप !" सभी ने आँखें फाड़कर उनकी ओर देखा।

"मैं नहीं, तो फिर कौन .... ?"

किसी के पास कोई जवाब न था।

जेकस को जैसे ही उनके बारे में पता चला, तो उसने जंगल की ओर जाने का कार्यक्रम बना लिया। वह ईसा से मिलना नहीं चाहता था। उनके चुंबकीय व्यक्तित्व के बारे में अब तक बहुत कुछ सुन रखा था। उन्हें घर पहुँचने पर पता चला कि वह जंगल की ओर चला गया है। ईसा कब मानने वाले थे। वह भी चल दिए। उसे खोजते हुए वहाँ जा पहुँचे .... जहाँ जेकस था। उसने जब उनको देखा, तो बड़ा हैरान हुआ। हैरत तो तब चरमावस्था तक पहुँच गई, जब उन्होंने उसे हृदय से लिपटा लिया। वह हतप्रभ था, उन्होंने उसे पेड़ की छाया में बैठाया और उसकी क्रूरता का इतना कारुणिक रीति से वर्णन किया कि निष्ठुरता पिघल उठी। उससे कहा, जरा तुम कल्पना करके देखो, यदि यही दुरावस्थाएँ तुम्हें और तुम्हारे स्वजनों को घेर लें, तो कैसी अनुभूति होगी ?"

ईसा लगातार उसकी आँखों में देखे जा रहे थे, जेकस ने आँखें झुका लीं। कुछ क्षणों की चुप्पी के बाद उसने अपनी चुप्पी तोड़ी। बोला—"प्रभो ! अभी तक मैं अंधा था। आपने मुझे दृष्टि दी। मैंने कभी इस रीति से न सोचा था। आज से वही करूँगा, जो आप कहेंगे। अपनी सारी कमाई दरिद्र-नारायण की सेवा में अर्पित करूँगा।"

विलक्षण चमत्कार। पेड़ की आड़ में खड़े शिष्य यह सब देखकर भैचक्के थे। आड़ से निकलकर ईसा के सामने आ गए और आश्चर्यचकित हो बोले—"प्रभु यह चमत्कार कैसे घटित हुआ ?" उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—"पवित्र आत्मा के अवतरण द्वारा। यह 'होली घोस्ट' और कुछ नहीं जागृत भाव संवेदनाएँ हैं; जो किसी में सक्रिय है, किसी में निष्क्रिय और सम्मोहित। जागृत आत्माओं का दायित्व है, वे दूसरों को जगाएँ।"

इतना कहकर उसे क्रास पहनाया। इसका मर्म समझाते हुए कहा—"हृदय के ऊपर लटकता हुआ क्रास इस बात का सूचक है कि हमारा हृदय आदर्शवादी भावों से लबालब भरा है। इतना ही नहीं, हम इसके लिए मर-मिटने, सूली का कष्ट सहने के लिए हँसते-हँसते तैयार हैं।"

उन्होंने स्वयं इसे सहा। शूली पर लटके उस ईश्वर पुत्र ने कहा, "हम स्वेच्छया यह कष्ट सह रहे हैं; ताकि आप सब जीवित

रहें। हमारे जीवन की आहुति की सार्थकता तभी है, जब आप सब अपनी निष्ठुरता निकाल फेंके।" उन्होंने कहा—"जो जीवन भर जीवित रक्त (स्वार्थ) के लिए जुटा रहेगा, वह उसे खो देगा; जो मेरे लिए अपना जीवन खोयेगा, वह उसे पा लेगा।" मानवता की तड़प को अपने अंदर सँजोये ईसा मरे नहीं—सूक्ष्म से विराट हो गए। विश्व की दो तिहाई जनसंख्या के हृदय में प्रभु बनकर विराज गए।

हमारी स्वयं की गहराइयों में भी वह छिपे हैं। बाहर उभरकर आने के लिए उनकी एक ही माँग है, पड़ोसी का दर्द हमारा अपना दर्द हो। सामने वाले का कष्ट हमारे मानस को मथ डाले, तो समझना चाहिए कि ईश्वर से एकात्म होने वाला है। भगवान जब कभी आता है, बेचैनी बनकर आता है। यह तो हमारे अंदर-बाहर एक होने के लिए तो आतुर है, पर घुसे कैसे ? हमने प्रवेश निषेध की तख्ती जो लगा रखी है ? प्रवेश निषेध की तख्ती और कुछ नहीं—निष्ठुरता है, जिसके हटते ही सारा जीवन स्वर्गीय आलोक से भर जाता है।

❑ ❑

जब अंतः में लौ जली तो

सालों साल से बना घना अँधेरा समाप्त होने में एक क्षण लगता है। पर कब ? जिस क्षण माचिस की एक तीली जल उठे। जीवन का अँधेरा भी उसी पल से छटने-मिटने लगता है। जिस पल संवेदनाओं की लौ जल उठे। शरीर व मन की सारी शक्तियाँ उसे बढ़ाने, व्यापक बनाने में जुट जाएँ। फिर विषमताएँ और अवरोध उसे बुझा नहीं पाते। वह व्यापक से व्यापकतर बनती जाती है। टैगोर ने ऐसों के लिए ही लिखा है—

"यदि झड़ बादले, आधार राते दुआर देवघरे।
तबे वज्रानले।

अर्थात् यदि प्रकाश न हो, झंझावात और मूसलाधार वर्षा की अँधेरी रात में जब अपने घर के दरवाजे भी तेरे लिए लोगों ने बंद कर लिए हों, तब उस वज्रानल में अपने वक्ष के पिंजरे को जलाकर उस प्रकाश में अकेला चलता चल।)

कर्मवीर गाँधी के जीवन में एक दिन यही लौ-धधक उठी। जल गए, उसमें मान-सम्मान, महत्त्वाकांक्षाएँ, पद-प्रतिष्ठा सभी कुछ। उस समय वह दक्षिण भारत का दौरा कर रहे थे। अफ्रीका से लौटने के बाद कर्मवीर के रूप में उनकी ख्याति थी, पर अभी महात्मा नहीं बने थे। रास्ते में देखा—एक युवा लड़की फटी धोती से जैसे-तैसे अपना शरीर ढके हुए थी। उसे धोती की जगह मैला-कुचैला चीथड़ा कहना ज्यादा ठीक होगा। टोकरी उठाए चली जा रही उस लड़की को सभी ने देखा। इन दृष्टियों में विरक्ति, उपेक्षा, वितृष्णा सभी कुछ था, नहीं थी, तो सिर्फ संवेदना। दृष्टि गाँधी जी की भी गई। उनकी दृष्टि में सिर्फ यही एक थी, बाकी कुछ न था।

उसे पास बुलाया, पूछा—"क्यों बहिन, तुम इस धोती को धोती क्यों नहीं ? इसके फटे हुए हिस्सों को सिल क्यों नहीं लेती ?" प्रश्न ने उसके अतीत-वर्तमान को, आर्थिक अभावों को एक साथ कुरेद दिया। गहरे घावों को छू लेने पर जैसी पीड़ा होती है, वैसी ही पीड़ा उसकी आँखों में उभरी। जवाब था—"कोई दूसरी धोती हो, तब तो धोऊँ, यह सिलने लायक हो, तब कहीं सिलूँ।"

उत्तर सुनकर गाँधी का चेहरा शर्म से लाल पड़ गया। जनता की यह दशा और जनता का सेवक कहा जाने वाला मैं धोती-कुर्ता सभी से लैस ?" इतना ही नहीं एक जोड़ी झोले में भी पड़े हैं। इससे अधिक शर्मनाक बात क्या होगी ? उन्होंने चुपचाप झोले से धोती निकाली और उसकी ओर बढ़ाई—"लो बहिन अपने भाई की ओर से इसे स्वीकार करो।"

युवती ने हाथ बढ़ाकर उसे स्वीकार कर लिया। कृतज्ञता और खुशी के भाव उसके चेहरे पर झलक रहे थे।

युवती गई। गाँधी जी ने पहनी धोती को ही फाड़कर दो टुकड़े किए। आधा पहनने का आधा ओढ़ने का। यही बन गई, उनकी

चिरस्थायी पोशाक और एक क्षण में कर्मवीर गाँधी, महात्मा गाँधी बन गए। क्या सिर्फ पोशाक बदलने से ? नहीं, अंतरंग की संरचना में उलट-फेर से।

पास खड़े साथी यह विचित्र परिवर्तन देख रहे थे। कुछ ने कहा—"अरे यह क्या ? आपको तो बड़े-बड़े आदमियों से मिलना पड़ता है। इस विचित्र पोशाक में उनसे कैसे मिलेंगे ?"

"स्वयं सूटेड-बूटेड कुत्तों को मोटरों में घुमाने वाले और नौकरों को फटकारने वालों को आप लोग बड़ा कहते हैं ? मुझे तरस आता है, आपकी समझ पर।" गाँधी जी का स्वर तीखा था। "यह आप नहीं, आपके अंदर की हीनता बोल रही है। लोकसेवी के गौरव बोध का अभाव बोल रहा है। बड़े ये नहीं हैं। बड़े वे हैं, जिनका मन सर्व-सामान्य की समस्याओं से व्याकुल रहता है। जिनकी बुद्धि इन समस्याओं के नित नए प्रभावकारी समाधान खोजती है। जिनके शरीर ने "अहिर्निशं सेवामहे" का व्रत ले लिया। झूठे बड़प्पन और सच्ची महानता में से एक ही चुना जा सकता है, दोनों एक साथ नहीं। महानता प्राप्ति का एक ही उपाय है, जन सामान्य की व्यथा समझना और उसके निवारण के लिए बिना किसी बहानेबाजी के जुट पड़ना। साथी बड़प्पन और महानता का अंतर समझ चुके थे। गाँधी जी ने कहा—"इन साधारण अँग्रेजों की बात करते हो, अगर मुझे इंग्लैंड के सम्राट से मिलना पड़ा, तो इसी पोशाक में मिलूँगा।"

घटना का पटाक्षेप हुआ। कुछ वर्षों के बाद सचमुच सम्राट की ओर से बुलावा आ पहुँचा। बुलावे के साथ निर्देश भी—गाँधी अंग्रेजी वेश-भूषा में आएँ। विरोधियों ने सोचा अब देखें कैसे नहीं पहनते अंग्रेजी पोशाक। सारी महात्मागिरी धरी रह जाएगी।

किंतु गाँधी जी का मानस वैसा ही दृढ़ था। उन्होंने स्पष्ट कहला भेजा—"मिलना सम्राट को है, मुझे नहीं। यदि उन्हें स्वीकार हो, तो मैं इसी पोशाक में मिलूँगा, अन्यथा नहीं।" गाँधी जी के आदर्शों के सामने सम्राट को झुकना पड़ा। वह गए, सम्राट जार्ज पंचम ने उनके इस विचित्र वेश को देखकर पूछा—"आखिर ऐसा क्या आ पड़ा, जो आपने यह वेश धारण किया।"

"निष्ठुर ही वैभव और विलास जुटा सकता है, एक भावनाशील के लिए यह संभव नहीं।" जार्ज पंचम के पास कोई जवाब नहीं था।

संवेदना के बाद का चरण है, सक्रियता। बेचैन तो रोगी भी होता है, पर वह चारपाई पर पड़ा पैर पटकता-कराहता रहता है, उससे कुछ करते-धरते नहीं बन पड़ता। दूसरों को उसकी सेवा में जुटना पड़ता है। भाव-चेतना के जागरण से उपजी बेचैनी इससे भिन्न है। यह व्यक्ति को सक्रिय होने के लिए विवश करती है।

महात्मा गाँधी के ज़ीवन में यही सक्रियता पनपी और विकसित हुई। उन्होंने अपने जीवन चक्र को इतनी तेजी से घुमाया कि एक साथ अनेकों काम कर डाले। स्वराज्य, स्वावलंबन, ग्राम-सुधार के साथ उन्होंने एक इतना अधिक महत्त्वपूर्ण काम किया कि इतिहास उन्हें कभी भुला न सकेगा। यह है, समाज को लोक-सेवी देना। विनाबा, नेहरू, पटेल, कृपलानी जैसे सैकड़ों गढ़ दिए। उनका एक ही स्वप्न था, रामराज्य लाने का, जो अधूरा पड़ा है। यह और कुछ नहीं ऐसे समाज की स्थापना है, जिसमें मनुष्य की पहचान उसकी भाव-चेतना के आधार हो। अगले दिनों वही होने को है, जिसमें उसका वास्तविक स्वरूप निखरकर आएगा। उसकी आज की दशा और भविष्य की दशा में कायाकल्प जैसा अंतर हर किसी को दीख पड़ेगा। हर किसी में उदार आत्मीयता हिलोरों लेती दीख पड़ेगी। ऐसी दशा में परमार्थ ही सच्चा स्वार्थ सिद्ध हो जाएगा। परिवर्तन के इस महापर्व में हम स्वयं भी बदलें। निष्ठुरता के झूठे लबादे को उतार फेंकें। सरसता के उमगते ही दिखाई देने लगेगा, स्वर्गीय राज्य। वह परिस्थितियाँ दूर नहीं हैं।

❑ ❑

संवेदना की दिव्य दृष्टि

धरती पर स्वर्गीकरण महाकाल का निश्चय है, जो अचल और अटल है; जिसे होना है, होकर रहेगा। इन दिनों हमारा एक ही कर्त्तव्य है, अपनी दिव्य-संवेदनाओं का जागरण। यही वह तरीका है, जिसे अपनाकर हम भावी परिस्थितियों में रहने लायक हो सकते हैं। करना उसी तरह होगा, जैसे ठक्कर बापा ने किया।

उन दिनों बढ़वाण में मुख्य इंजीनियर थे। रहन-सहन भी पढ़ाई के अनुरूप था। एक बार सफाई करने वाला हरिजन उनके मकान में मैला साफ करने आया। उसका सूखा शरीर, मरियल चेहरा, फटे कपड़े, उसकी दीनता की कहानी रो-रोकर सुना रह थे। इंजीनियर अमृत लाल ठक्कर ने उसे सलाह दी—"भाई ! साफ-सफाई से रहा करो, कपड़े थोड़ा ठीक पहनो।" हरिजन व्यक्ति ने कहा—"बाबू मैं इंजीनियर नहीं हूँ, जो कोट-पैंट पहन सकूँ।"

"क्या कठिनाइयाँ हैं ?" —ठक्कर ने पूछा।

"वैभव की दीवारों और शान-शौकत की पहरेदारी में, गरीबों की बिलखती आवाजें नहीं घुसा करती हैं। शायद आप हमारी स्थिति में रहते, तो समझ पाते।" बूढ़े के वाक्यों ने तीर की तरह उनके मर्म को भेद दिया। गहरी तिलमिलाहट हुई। ठीक ही तो कह रहा है, वह व्यक्ति। कोरी वाणी ने कब किसका कल्याण किया है ? संवेदनशील की एक ही पहचान है, वह जो भी कहता है, आचरण से। यदि ऐसा नहीं है, तो समझना चाहिए कि बुद्धि ने पुष्पित वाणी का नया जामा पहन लिया है। जो हमेशा से अप्रमाणित रहा है और रहेगा। उपदेष्टा को सीखने वाले के साथ अपनी अनुभूति को एक करना पड़ता है। अपनत्व के अनुपान के बिना भला महत्त्वपूर्ण जीवन विद्या कब गले उतरी है ?

बस फिर क्या था—आ पहुँची परिवर्तन की घड़ियाँ। नौकरी ... को तिलांजलि दे डाली आलीशान फ्लैट को लात

मार दी और सचेतन संवेदनाओं से पोषित प्रबल प्राण को लेकर आ पहुँचे हरिजन की बस्ती में। एक टूटी-सी झोंपड़ी में रहने लगे। सबके यहाँ सफाई करने वाले हरिजनों के यहाँ वह खुद सफाई करते। अब वह हरिजनों के हरिजन हो गए। उन्हें सिखाते, देखो इस स्थिति में भी किस तरह स्वच्छ रहा जा सकता है ? सुसंस्कृत बना ज़ा सकता है।

अतिरिक्त समय में उनके बच्चों को पढ़ाते। प्रौढ़ों को पुस्तकों से पढ़कर जीवनोपयोगी बातें सुनाते, सही ढंग से रहने के तरीके बताते। आरंभ में अंशकालिक, बाद में पूर्णरूपेण सेवा में निरत अमृत लाल ठक्कर अब सभी के ठक्कर बापा हो गए थे। दुःखियों एवं पीड़ितों की पीड़ा को नीलकंठ बन पीने वाले बापा की संवेदनाओं का यह अद्भुत स्वरूप देखकर, महात्मा गाँधी ने उनके बारे में कहा—"काश ! मैं भी बापा जैसी संवेदनाओं की पूँजी जुटा पाता, तो अपने को धन्य मानता।"

देश के किसी कोने में पीड़ित मानवता की पुकार उठी हो, बापा के मन में बसे भगवान विष्णु के लिए यह गज की पीड़ा की तरह होती और वे गरुड़ वाहन छोड़कर दौड़ पड़ते। जन-करुणा की सरिता उनके पीछे-पीछे चल पड़ती।

संवेदनशील को ही सही दृष्टि मिलती है। बाकी तो आँखों के रहते भी दृष्टिविहीन बने रहते हैं। उनहें मानवता की तड़फड़ाहट दिखाई नहीं पड़ती है। बापा के पास यही दिव्य दृष्टि थी। वह उस समय जयपुर में थे। जयपुर जिसे भारत का पेरिस कहा जाता है। लोग जिसके वैभव को बखान करते नहीं अघाते थे। बापा ने जयपुर देखा, विलास नहीं रुचा। उन्हें दिखी वहाँ के भंगियों की नारकीय दशा, जिसे अब तक किसी ने नहीं देखा था। उनकी रग-रग इन दीन-हीनों की पीड़ा से कराह उठी। वह जुट पड़े, जन सहयोग भी उमड़ पड़ा। वहाँ के हरिजनों की दशा सुधारी।

किशोर लाल मश्रूवाला के शब्दों में—"बापा की संवेदनाओं के आकर्षण में बँधे-लिपटे हरि उनके पास डोलते थे।" बापा के शब्दों में "मेरा हरि दीन-दलितों की कुटियों में रहता है जिससे मैं तद्रूप

हो गया हूँ।" एक दिन बापा दिल्ली में हरिजन निवास में बैठे गुजराती का भजन गा रहे थे।

हरिना जन तो मुक्ति न माँगे,
माँगे जनभोजनम् अवतार रे।
नित सेवा नित कीर्तन ओच्छव,
निरखवा नंद कुमार रे।।

वहाँ उपस्थित वियोगी हरि ने पूछा, "आपने देखा है नंद कुमार को ?" वह भाव-विह्वल हो बोल पड़े, "क्यों नहीं ? नंद कुमार का दर्शन तो मैंने कितने रूपों में किया है, आदिवासियों एवं हरिजनों के गोकुल में।"

नंद कुमार का दिव्य लोक पुनः धरा पर अवतरित होने की जल्दी में है। हम भी इसी शीघ्रता से संवेदनाओं को जाग्रत कर दिव्य दृष्टि युक्त हों। ऐसा न कर पाने पर शायद हमें उसी तरह भटकना पड़े जैसे अंधे भटकते हैं। भटकन से बचने के लिए स्वयं को भाव-संवेदनाओं के राज्य में रहने के योग्य बनाएँ। यही क्षण हमारी आत्म-जागृति का क्षण सिद्ध हो।

❐ ❐

मिशन की पत्रिकाएं

(१) अखण्ड ज्योति (मासिक)

(धर्म एवं अध्यात्म के तत्त्वज्ञान का विज्ञान एवं तर्क-तथ्य-प्रमाण की कसौटी पर खरा चिंतन)

वार्षिक मूल्य-८४.००, आजीवन शुल्क-१५००.०० रुपया।

पता : अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा-२८१००३

फोन : (०५६५) २४०३९४०

(२) युग निर्माण योजना (मासिक)

(व्यक्ति, परिवार, समाज निर्माण एवं सात आंदोलनों की मार्गदर्शक पत्रिका)

वार्षिक मूल्य-४२.००, आजीवन शुल्क-७५०.०० रुपया।

पता : युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

(३) युग शक्ति गायत्री (गुजराती मासिक)

(गायत्री महाविज्ञान, धर्म, अध्यात्म एवं युगानुकूल विचार परिवर्तन का मार्गदर्शन)

वार्षिक मूल्य-६५.००, आजीवन शुल्क-१२००.०० रुपया।

पता : युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

(४) प्रज्ञा अभियान (पाक्षिक)

(युग निर्माण मिशन के क्रियाकलापों एवं मार्गदर्शन का समाचार-पत्र)

वार्षिक शुल्क-२४.०० रुपया।

पता : शांतिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तरांचल) फोन : ०१३३४-२६०६०२

(५) पाक्षिक वीडियो पत्रिका : युग प्रवाह

(युग निर्माण मिशन के प्रमुख क्रियाकलापों की दृश्य-श्रव्य जानकारी)

वार्षिक शुल्क-१५००.०० रुपया।

पता : शांतिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तरांचल) फोन : ०१३३४-२६०६०२